Date .....
Page .....

एम०ए०-संस्कृत-द्वितीय सेमेस्टर डॉ० रश्मी गौतम
(अतिथि विद्वान)

प्रश्न-पत्र-प्रथम (इकाई - V)

प्र० जैन-दर्शन में मुक्ति के सिद्धांत बताइये?

उ० **कर्म का सिद्धान्त** ⇒ जैन दर्शन में मुक्ति का अर्थ समझने से पहले 'कर्म' का स्वरूप जान लेना लाभदायक होगा क्योंकि साधारणतः कर्मों से छुटकारा पाने का नाम ही मोक्ष होता है। जैनों के अनुसार कर्म पौद्गलिक अर्थात् धूल के कण के समान जड़ पदार्थ हैं। कर्म के इन पौद्गलिक अणुओं को कर्मवर्गणा भी कहते हैं ये इच्छा, द्वेष और भ्रम से प्रेरित मन, शरीर और वाणी की क्रियाओं तथा वासनाओं से पैदा होते हैं।

मुख्य रूप से कर्म के दो भेद हैं -

(1) घातीय अथवा नाशवान
(2) अघातीय जो कि नाशवान नहीं हैं।

घातीय कर्म के चार भेद हैं -

(1) ज्ञानावरणीय अर्थात् ज्ञान को ढँकने वाले ⇒ ये मति, श्रुति, अवधि, मनः, पर्याय और केवल्य इत्यादि पाँच तरह के ज्ञान में बाधक होते हैं।

(2) दर्शनावर्णीय कर्म अर्थात् प्रत्यक्ष में बाधक ⇒ ये सब तरह के प्रत्यक्ष में जैसे चाक्षुष अर्थात् आँखों द्वारा, अचाक्षुष अर्थात् आँखों के अलावा, अवधि अर्थात् दूरस्थ वस्तु का प्रत्यक्ष, केवल अर्थात् पूर्व प्रत्यक्ष में बाधक हैं और निद्रा अर्थात् नींद, निद्रानिद्रा अर्थात् गहरी नींद

Scanned with CamScanner

प्रचला अर्थात् अशान्त नींद, प्रचला-प्रचला अर्थात् अत्यंत अशान्त नींद तथा स्त्यानगृद्धि या अर्थात् नींद में चलना इत्यादि के कारण हैं।

(5) अन्तराय कर्म ⇒ यह दान, लाभ गोत्र उपभोग और वीर्य में बाधा उत्पन्न करते हैं। ये आत्मा की स्वाभाविक शक्ति को रोककर उसे संकल्प होते हुये भी कर्म नहीं करने देते।

(6) मोहनीय कर्म ⇒ यह खासतौर से दो तरह के होते हैं। - (i) दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। पहला सद्विश्वास, असद् विश्वास और सद् असद् विश्वास को रोकता है। दूसरा कषाय वेदनीय अर्थात् क्रोध, दम्भ, धोखा और लोभ तथा अकषाय वेदनीय अर्थात् हास्य, द्वेष, दुःख, भय, घृणा, स्त्री-कामुकता, पुरुष की कामुकता तथा हिजड़े की कामुकता का कारण है।

अघातीय कर्म के भी चार भेद हैं ⇒

(1) आयुष कर्म ⇒ यह नारकीय-जीवन, पशु-जीवन, मानव-जीवन तथा स्वर्गीय जीवन की अवधि निर्धारित करते हैं

(2) नाम कर्म ⇒ यह आत्मा का नारकीय, पाराशैविक, मानव और दैविक जीवन के आवागमन, शारीरिक विशेषताएँ, गुण, शक्तियों, चरित्र और व्यक्तित्व का कारण है।

(3) गोत्र कर्म ⇒ ये उच्च अथवा निम्न परिवार में जन्म का कारण है।

(4) वेदनीय ⇒ ये कर्म सुख अथवा दुख की वेदनाएँ पैदा करते हैं।

Scanned with CamScanner

जैन दर्शन

प्रश्न 1. जैन दार्शनिकों के 'द्रव्य सिद्धान्त' का पूर्णरूपेण विवेचन कीजिए।

अथवा

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य की व्याख्या कीजिए।

उत्तर—'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति 'जिन' से मानी गई जिसका अर्थ होता है विजेता अर्थात् वे व्यक्ति जिन्होंने अपने जीवन में मन एवं कामनाओं पर विजय प्राप्त करके सदा के लिये आवागमन चक्र से मुक्ति प्राप्त कर ली है। इन्हीं जिनों के उपदेशों का पालन करने वालों को जैन कहा जाने लगा तथा उनके सम्प्रदाय के सिद्धान्त "जैन-दर्शन" अथवा "जैन धर्म" के नाम से विख्यात हुए।

द्रव्य क्या है—जैन दर्शन में द्रव्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है—"गुणपर्यायवद् द्रव्यम", अर्थात् द्रव्य वह है जिसमें गुण और पर्याय हो। गुण स्वरूप धर्म है और पर्याय आगन्तुक धर्म। जैन दार्शनिकों के अनुसार चीजों में बहुत से धर्म होते हैं। मोटे तौर से इन धर्मों के निम्नलिखित दो भेद किये गये हैं—

1. **भावात्मक**—जो कि चीज को अपनी स्थिति और रूप इत्यादि को दिखलाते हैं। इन्हें 'सर्व पर्याय' भी कहा गया है।

2. **अभावात्मक**—जो कि किसी चीज को दूसरी चीजों से अलग होना दिखलाते हैं। इनको पर्याय भी कहते हैं। समय के बदलने के साथ-साथ ये धर्म भी बदलते रहते हैं। इस प्रकार द्रव्य के धर्मों के दो भेद किये गये हैं—(1) स्वरूप अथवा नित्य धर्म, और (2) आगन्तुक या परिवर्तनशील धर्म। स्वरूप धर्मों के बिना द्रव्य का अस्तित्व ही असम्भव है। अत: वे द्रव्य में हमेशा मौजूद रहते हैं। उदाहरण के लिये चैतन्य आत्मा का स्वरूप धर्म है। इच्छा, संकल्प, सुख-दुख आदि बदलने वाले धर्म हैं। जगत् द्रव्यों से बना है। द्रव्य के दोनों गुणों के कारण वह नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य सत् है। उसमें सत्ता के तीनों लक्षण—उत्पत्ति, व्यय (क्षय) और ध्रौव्य (नित्यता) मौजूद है। कहा गया है—

"उत्पत्ति व्यय ध्रौव्य लक्षण सत"

द्रव्य के रूप—द्रव्य के दो रूप हैं—अस्तिकाय और अनस्तिकाय। अस्तिकाय वे द्रव्य हैं जिनका मूर्त रूप है और जो कार्य अथवा शरीर की भाँति आकाश घेरते हैं। अनस्तिकाय का कोई शरीर नहीं है, वे अमूर्त हैं। अनस्तिकाय में एकमात्र काल की ही गणना है। अस्तिकाय में दो प्रकार के द्रव्य हैं—(1) जीव, और (2) अजीव।

Scanned with CamScanner

जीवद्रव्य—षड्दर्शन समुच्चय के अनुसार चेतन द्रव्य को जीव या आत्मा कहते हैं (चेतना लक्षणो जीव:)। सांसारिक दशा में आत्मा जीव कहलाता है। जीव में प्राण और शारीरिक, मानसिक तथा इन्द्रियों की शक्ति है। शुद्ध अवस्था में जीव में अशुद्ध ज्ञान और दर्शन अर्थात् निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञान रहता है परन्तु कर्म के प्रभाव से जीव में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदायिक तथा पारिमाणिक ये पाँच 'भाव' प्राण से लिपटे रहते हैं।

द्रव्य के रूप बदलने पर यही 'भावदशापन्न प्राण' पुद्गल (Matter) कहलाता है। पुद्गल युक्त जीव संसारी कहलाता है, जैन दर्शन परिणामवादी है। अत: भाव द्रव्य में और द्रव्य भाव में बदलते रहते हैं।

जीव के गुण—जैन धर्म के अनुसार जीव स्वयं प्रकाश है और दूसरी चीजों को भी प्रकाशित करता है। वह नित्य सारे शरीर में बसा रहता है। शुद्ध दृष्टि से इसमें 'ज्ञान' और 'दर्शन' हैं। वह अमूर्त कर्त्ता, स्थूल शरीर के समान लम्बा, चौड़ा, कर्मफलों का भोक्ता, सिद्ध तथा ऊर्ध्वगामी है। 'अविद्या' के कारण उसमें 'कर्म' प्रवेश करता है और वह बन्धन में बँध जाता है। बुद्ध जीव चेतन और 'नित्य परिणामी' है। उसमें संकोच और विकास के गुण हैं, इसलिये वह जिस शरीर में प्रवेश करता है उसी का रूप धारण कर लेता है। जीव का विस्तार जड़ के विस्तार से भिन्न है। वह शरीर को घेरता नहीं है परन्तु शरीर के हर एक अंग में उसका अनुभव होता है। एक जड़ द्रव्य, दूसरे जड़ द्रव्य में नहीं घुस सकता परन्तु जड़ में आत्मा और जीव में जीव शामिल हो सकता है। जीव को आँखों से नहीं देखा जा सकता है क्योंकि उसका रुप नहीं है। आत्मानुभूति से उसके अस्तित्व का सबूत मिलता है। मुक्त अवस्था में जीव को सम्यक् ज्ञान होता है। जीव में 'प्रवेश' होते हैं जो पर्याय भी कहलाते हैं। इसलिए जीव को अस्तिकाय (प्रवेशों अथवा शरीर से मुक्त) कहते हैं। जीव प्रतिक्षण परिणामी है। उसमें उत्पात व्यय और ध्रौव्य हर समय रहते हैं। उसमें 'अनन्त ज्ञान', 'अनन्त दर्शन' तथा 'अनन्त सामर्थ्य' स्वाभाविक रूप से मौजूद रहते हैं। आवरणीय कर्मों के प्रभाव से ये जाहिर नहीं हो पाते। चेतना या अनुभूति तथा उपयोग अथवा चेतना का फल जीव के विशेष गुण हैं। उपयोग के भी दो भेद हैं—(1) 'ज्ञानोपयोग' तथा (2) 'दर्शनोपयोग'। पहले को सविकल्पक तथा दूसरे को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। सविकल्पक ज्ञान आठ तरह के हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्याय और कैवल और तीन विपर्यय कुमति, कुश्रुत तथा विभागाविधि। कैवल्य ज्ञान शुद्ध और क्षणिक है। यह कर्मों के नष्ट होने के बाद जाहिर होता है।

जीव के पर्याय—जीव के 'पर्याय' या 'परिणाम' चार हैं—दिव्य, मानुष, नारकीय, तीर्थक। पर्याय भी दो तरह के होते हैं—

(1) **द्रव्य पर्याय**—द्रव्य पर्याय भिन्न-भिन्न द्रव्यों में ऐक्य बुद्धि के कारण हैं।

(2) **गुण पर्याय**—परिणाम के कारण द्रव्यों के गुणों में जो परिवर्तन हो उसे गुण पर्याय कहते हैं, जैसे—आम आम रहते हुए भी हरे से पीला हो जाता है। द्रव्य पर्याय के भी दो भेद हैं—

(i) **समान जातीय द्रव्य पर्याय**—यह जड़ द्रव्यों के संगठन से पैदा होता है। इसका उदाहरण स्कन्ध है।

(ii) **असमान जातीय द्रव्य पर्याय**—यह जड़ और चेतन दोनों के संगठन से पैदा होता है। इसका उदाहरण मनुष्य का शरीर है। जैन 'सद्भाववादी' हैं। शरीर का नाश होता है परन्तु दिव्य मानुष अथवा नारकीय कोई भी रूप धारण करने पर भी जीवत्व रूप 'भाव' का नाश कभी नहीं होता है। द्रव्य नित्य है, परन्तु पर्याय अनित्य है। यही जैनों के 'अनेकान्तवाद' का सिद्धान्त है।

Scanned with CamScanner

जीव के भेद—साधारण रूप से जीव के दो भेद किये जा सकते हैं—(1) बुद्ध, (2) मुक्त। बुद्ध अथवा संसारी जीवों के भी दो भेद किये जा सकते हैं—

(i) स्थावर—स्थावर जीवों में एक ही इन्द्रिय 'त्वकइन्द्रिय' होती है। पृथ्वी, जल, तेज वायु और वनस्पति जगत् ये सभी स्थावर जीव हैं।

(ii) त्रस या जंगम—'त्रस' वे जीव हैं जिनमें एक से अधिक इन्द्रियाँ हैं। इस तरह मनुष्य, पक्षी, जानवर, देवता और नारकीय जन सभी 'त्रस' जीव हैं। इनमें पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं। अलग-अलग तरह के शरीरों के अनुसार इनके अलग-अलग नाम होते हैं। पृथ्वी के शरीर को धारण करने वाले पत्थर इत्यादि 'पृथ्वीकाय' और जल का स्वरूप धारण करने वाले सरोवर इत्यादि को 'अपकाय' कहते हैं। इसी तरह 'वायकाय' तथा 'तेजकाय' इत्यादि भी होते हैं।

अजीव तत्व के गुण—अजीव तत्त्व का कभी नाश नहीं होता। पुद्गल के अलावा दूसरे अजीव द्रव्यों में रूप, रस, स्पर्श और गन्ध नहीं होते। पुद्गल में ये चारों गुण हैं—धर्म, अधर्म और आकाश में से हर एक ही एक है। पुद्गल और जीव अनेक हैं। इनमें क्रिया भी है। अन्य तीनों में क्रिया नहीं है। पुद्गल के गुण अणु तथा संघातों में भी पाये जाते हैं।

अजीव तत्व के भेद—अस्तिकाय द्रव्य का दूसरा भेद अजीव है। अजीव के पाँच भेद होते हैं—(1) धर्म, (2) अधर्म, (3) आकाश, (4) पुद्गल और (5) काल।

इनमें पहले चार में अनेक 'प्रदेश' होते हैं इसलिये ये अस्तिकाय कहलाते हैं। काल में एक ही 'प्रदेश' है इसलिये यह अस्तिकाय नहीं है।

(1) धर्मास्तिकाय—यह लोकाकाश में फैला हुआ है। इसमें रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श नहीं है। यह परिणामी होकर भी नित्य है क्योंकि उत्पाद तथा व्यय रखने पर भी यह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। धर्म और अधर्म के कारण क्रमशः गति और स्थिति है। यह न तो स्वयं क्रियाशील है और न किसी दूसरी चीज में क्रिया पैदा करता है। यह क्रियाशील पुद्गलों और जीवों को उनकी क्रिया में सहायता करता है।

(2) अधर्मास्तिकाय—धर्म को सामान्यतः पुण्य समझना जैन दर्शन में भ्रान्तिपूर्ण है, उसी प्रकार अधर्म का पाप अर्थ समझना भी। धर्म और अधर्म एक साथ लोकाकाश में रहते हैं। दोनों नित्य, निराकार तथा गतिहीन हैं। अधर्मास्तिकाय जीव तथा पुद्गल को विश्राम की हालत में सहायता देता है। धर्म विपरीत होने पर भी इसमें रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श का अभाव है। यह अमूर्त लोकाकाश में व्यापक और नित्य है।

(3) आकाशास्तिकाय—आकाश दो प्रकार का है, एक लोकाकाश और द्वितीय अलोकाकाश। आकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, यह अनुमान से मालूम पड़ता है। बिना आकाश के अस्तिकाय द्रव्यों का विकास कैसे होगा? अलोकाकाश लोकाकाश से परे है। लोकाकाश जीव तथा अन्य द्रव्यों का निवास-स्थान है। जीव, अजीव, अधर्मकाल और पुद्गल को अपनी-अपनी स्थिति के लिए जो स्थान दे, वही आकाश है। इसे लोकाकाश भी कहते हैं। जहाँ इन द्रव्यों का रहने का स्थान न हो, वह अलोकाकाश है। लोकाकाश में असंख्य और अलोकाकाश में अनन्त प्रदेश हैं।

(4) पुद्गलास्तिकाय—बौद्ध साहित्य में पुद्गल अथवा पुग्गल शब्द का प्रयोग व्यक्ति के अर्थ में होता है। परन्तु जैन धर्म में पुग्गल या पुद्गल शब्द का अर्थ वस्तु या पदार्थ है परन्तु सर्वदर्शन संग्रह के अनुसार 'जिसका संयोग और वियोग हो सके' अथवा जो संगठन या विघटन [illegible] को प्राप्त करे, वह पुद्गल है। पुद्गल का सबसे छोटा विभाग 'अणु' है [illegible]

Scanned with CamScanner

टुकड़े नहीं हो सकते। दो या अधिक अणुओं के मिलने से 'संघात' या 'स्कन्ध' बनता है। इसमें हमारे शरीर और दूसरे जड़ द्रव्य भी आ जाते हैं। मन, वचन तथा प्राण भी जड़ तत्वों से बने हैं। पुद्गल के चार गुण रूप, रस, स्पर्श तथा गन्ध हैं। ये गुण अणुओं तथा संघातों में भी पाये जाते हैं। पुद्गल सीमित और मूर्त द्रव्य है। उसमें मृदु, कठिन, गुरु, लघुशीत, ऊष्ण, स्निग्ध तथा सूक्ष्म ये आठ तरह के स्पर्श होते हैं। उसमें तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय, ये पाँच रस होते हैं। सुरभि और असुरभि दो तरह की गन्ध होती है। कृष्ण, नील, लोहित, पीत और शुक्ल ये पाँच तरह के रूप होते हैं। अणु और स्कन्ध उसके दो आकार हैं। दो अणुओं के संगठन से 'द्विप्रदेश' और 'द्विप्रदेश तथा एक अणु' के संगठन से 'त्रिप्रदेश' आदि क्रम से स्थूल, स्थूलतर तथा स्थूलतम द्रव्य बनते हैं। अमृतचन्द सूरि के अनुसार इसी तरह सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम आकार के भी 'पुद्गल द्रव्य' होते हैं। शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान (आकार), भेद, अंधकार, छाया, प्रकाश ये सभी पुद्गल के ही परिणाम हैं। पुद्गलों के सम्पर्क से जीव गतिमान होता है।

(5) **काल**—काल पुद्गल तथा दूसरे द्रव्यों के परिणामों का कारण है। उमास्वामी के अनुसार द्रव्यों की बर्त्तना, परिणाम, क्रिया, नवीनता या प्राचीनता काल के कारण ही सम्भव है। काल नित्य है, अत: पुद्गल में सदैव गति रहती है। अगोचर होने के कारण उसका अस्तित्व अनुमान से ही सिद्ध होता है। काल (समय) कहलाता है। घण्टा, मिनट, दिन, रात आदि समय के भिन्न-भिन्न रूप हैं। समय 'परिणाम-भव' और 'क्षणिक' है। वह 'काल अणु' भी कहलाता है। 'काल अणु' सारे लोकाकाश में भरे रहते हैं। ये परस्पर नहीं मिलते। हर एक 'काल अणु' दूसरे से अलग रहता है। ये अदृश्य, अमूर्त, अक्रिय और असंख्य हैं। 'निश्चय काल' नित्य है और द्रव्यों के परिणाम में सहायक होता है। वह समय का आधार है। 'समय' को व्यावहारिक काल भी कहते हैं।

काल के भेद—इस तरह जैन दार्शनिकों ने काल के दो भेद माने हैं—(1) परिमार्थिक काल, (2) व्यावहारिक काल। पारमार्थिक काल नित्य तथा निराकार है। व्यावहारिक काल का प्रारम्भ और अन्त होता है। बर्तना परिमार्थिक काल के कारण होती है। व्यावहारिक काल के दूसरे परिवर्तन होते हैं। अखण्ड द्रव्य होने के कारण काल अस्तिकाय नहीं है, वह अवयवों के बिना ही सारी दुनिया में फैला हुआ है।

जैन दर्शन में द्रव्य के भेद निम्नलिखित चार्ट से स्पष्ट हो जायेंगे—

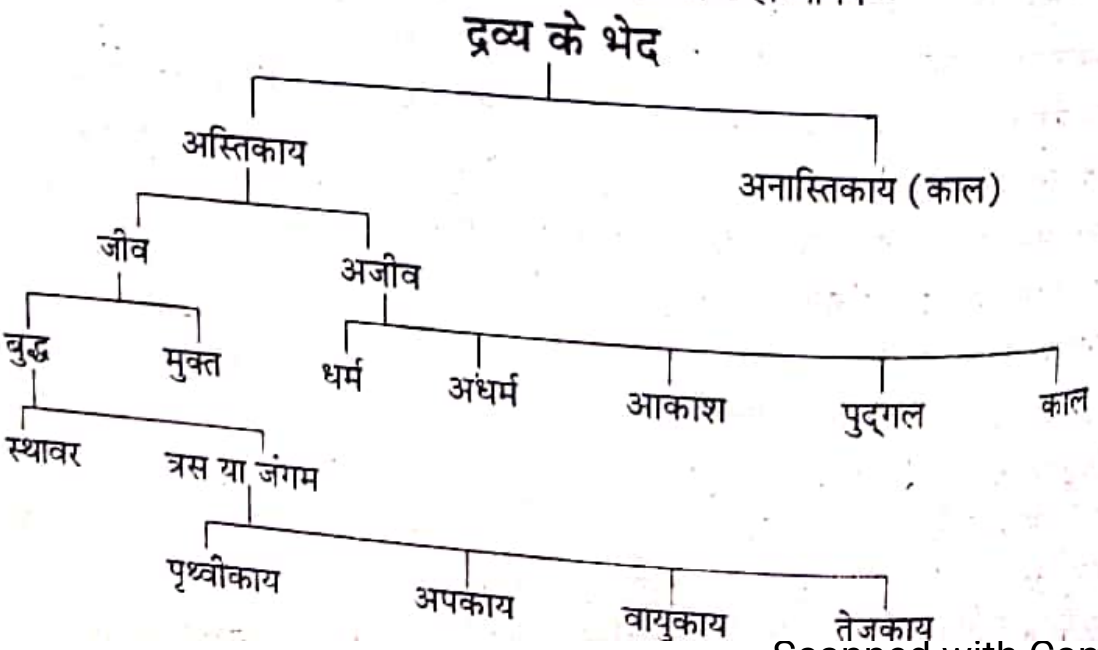

Scanned with CamScanner

प्रश्न 5. ज्ञान मीमांसा का सिद्धांत क्या है? विवेचना कीजिए।

उत्तर—ज्ञान मीमांसा—ज्ञान मीमांसा वह है जो ज्ञान के स्रोत, प्रमाण, प्रकार और स्वभाव की विवेचना करे। जैनों की ज्ञान मीमांसा उनकी तत्त्व मीमांसा के समान ही अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है। ज्ञान परिभाषा तथा स्वभाव का वर्णन जैनों ने अपने ढंग से किया है।

ज्ञान का अर्थ—जैनों के समक्ष एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि हमें ज्ञान का अर्थ मालूम होता है या अर्थ का ज्ञान। (Meaning of knowledge or the knowledge of meaning) 'ज्ञान से अर्थ को जाना जाता है।' इस समस्या पर आचार्य कुन्द ने अपने 'समयसार' में पूर्ण रूप से विचार किया है। उनका अभिप्राय है कि या तो ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है या अर्थ में ज्ञान प्रविष्ट होता है। (Either knowledge springs in the meaning or the meaning enters the knowledge.)

ज्ञानी, वस्तुत: ज्ञान-स्वभाव और अर्थ ज्ञेय स्वभाव है। अत: दोनों अलग-अलग हैं। दोनों में विषय-विषयी (Object and Subject) भाव है। जैसे दूध के कटोरे में रखी हुई नीलमणि अपनी चमक से दूध को प्रकाशित करके उसमें रहती है वैसे ही ज्ञान भी वस्तुओं के अर्थ को स्पष्ट करता हुआ उनमें रहता है। जैसे दूध में मणि नहीं व्याप्त होती वैसे ही वस्तु अर्थ में ज्ञान भी व्याप्त नहीं होता। यदि यह कहा जाये कि अर्थ हीन होता है, तो यह वाक्य ही अर्थहीन हो गया क्योंकि निरर्थक-ज्ञान की कहीं सत्ता नहीं होती। इससे यह प्रकट होता है कि ज्ञान में अर्थ और 'अर्थ' में ज्ञान है।

प्रमाण—न्याय दर्शन में प्रमाण की परिभाषा—प्रमाया: करण 'प्रमाणम्'—बताते हैं किन्तु जैनों के अनुसार सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण है। (The perfect knowledge is Pramana)

प्रमाण को दो श्रेणियों में बाँटा गया है—

(1) प्रत्यक्ष प्रमाण—इस प्रकार के प्रमाण में किसी ऐसे माध्यम की आवश्यकता नहीं होती जो ज्ञाता और ज्ञेय के बीच उपस्थित हो। इसके अन्तर्गत मति और श्रुति है।

(2) परोक्ष प्रमाण—ऐसे ज्ञान से ज्ञानेन्द्रियों का सीधा सम्बन्ध पदार्थों से नहीं होता बल्कि एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता होती है जो ज्ञाता और ज्ञेय के बीच रहता है। इसकी सीमा में अवधि, मन: पर्याय और केवल ज्ञान आते हैं।

प्रत्यक्ष और परोक्ष में अन्तर—प्रत्यक्ष और परोक्ष में केवल अपेक्षा के दृष्टिकोण से अन्तर है। इन्द्रिजन्य बाह्य तथा आन्तरिक विषयों का मतिज्ञान (Cognition) अनुमान की तुलना में प्रत्यक्ष है किन्तु परमार्थिक दृष्टिकोण से परोक्ष है। कर्म-बन्धन का पूर्ण विनाश होने पर ज्ञान के ये प्रकार भी नष्ट हो जाते हैं। जैन दर्शन में तीन प्रमाण माने गये हैं—

(i) प्रत्यक्ष (Perception)

(ii) अनुमान (Inference)

(iii) शब्द (Testimony and Authority)

(i) प्रत्यक्ष प्रमाण—प्रत्यक्ष लौकिक ज्ञान है। इसके दो रूप हैं— मति और श्रुति। दृश्य वस्तु का पूर्ण ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। आगमों द्वारा जो ज्ञान आप्त वाक्य के रूप में प्राप्त होता है, श्रुत ज्ञान कहा जाता है। श्रुत ज्ञान की [illegible]

Scanned with CamScanner

(क) मतिज्ञान—मतिज्ञान साधारण परिचय है और सामान्य इन्द्रियों तथा मन के द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसके अन्तर्गत स्मृति, संज्ञा या प्रत्यभिज्ञा, तर्क या निरीक्षण पर आधारित आगमन, अभिबिनिबोध या अनुमान। मतिज्ञान को कभी-कभी तीन वर्गों में बाँटते हैं—

(i) उपलब्धि (Perception)

(ii) भावना (Memory)

(iii) उपयोग (Understanding)

मतिज्ञान वह है जो इन्द्रियों और मन द्वारा प्राप्त किया जाता है। मन को अनिन्द्रिय माना जाता है। इसको इन्द्रियों से पृथक् समझने के लिए कहा जाता है। मतिज्ञान के उदय होने से पहले हमें दर्शन होता है। मतिज्ञान चार प्रकार का होता है—

(1) अवग्रह—यह मतिज्ञान की पहली अवस्था है। जिस ज्ञान में केवल विषय ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं। दूसरे शब्दों में जब हम कोई ध्वनि सुनते हैं इसमें एक अवस्था वह है जब हम यह नहीं जान पाते हैं कि वह ध्वनि किसकी है, इस अवस्था को ही 'अवग्रह' कहते हैं। इसके लिए सम्मुग्ध, आलोचना, ग्रहण और अवधारण शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इसमें इन्द्रिय और वस्तु के संयोग से उत्पन्न पहले प्रकार का ज्ञान होता है। कुछ लोगों ने अवग्रह के भी दो भेद किये हैं—

(क) विज्ञानावग्रह—इसमें विषयी और विषय का सम्बन्ध मात्र स्थापित हो जाता है।

(ख) अर्थावग्रह—इसमें विषयी को विषय की संवेदना होती है और अर्थपरिचय होता है।

(2) ईहा—अवग्रह के बाद विषय को जानने की इच्छा होती है जिसे 'ईहा' कहते हैं। इसमें जीव दृश्य विषय के गुणों का परिचय प्राप्त करना चाहता है। उदाहरण के लिए पहले जब कोई शब्द सुनाई पड़ता है तो यह ज्ञात नहीं होता कि किसका शब्द है। उसे जानने की इच्छा ही 'ईहा' है।

(3) 'अवाय'—जब यह ज्ञान हो जाता है कि दृश्य वस्तु निश्चित रूप से क्या है, तो इस अवस्था को 'अवाय' कहते हैं। यह वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान है।

(4) धारणा—यह मतिज्ञान की अन्तिम अवस्था है। निश्चयात्मक ज्ञान हो जाने के बाद जीव के मन में उस वस्तु की एक स्मृति, प्रत्यभिज्ञा शेष रह जाती है और अवसर के अनुसार वह उस वस्तु का अनुमान करने में समर्थ होता है। इस अवस्था में जीव के अन्त:करण में संस्कार बन जाता है।

(ख) श्रुतज्ञान—श्रुत वह ज्ञान है जिसे चिन्हों, संकेतों और शब्दों द्वारा प्राप्त किया जाता है या इसे हम दूसरी तरह का 'लौकिक ज्ञान' कह सकते हैं। मतिज्ञान में हमें सान्निध्य द्वारा ज्ञान होता है किन्तु श्रुतज्ञान में वर्णन द्वारा श्रुतज्ञान की प्राप्ति आप्त वचनों को सुनने और प्रमाणिक ग्रन्थों को पढ़ने से होती है या बड़े-बड़े महापुरुषों या सिद्ध-ऋषि मुनियों की बातों को सुनने से प्राप्त होता है। श्रुत ज्ञान के लिए इन्द्रिय ज्ञान की विशेष आवश्यकता है। तीर्थंकरों के उपदेश श्रुत ज्ञान की कोटि में आते हैं। श्रुतज्ञान को दो वर्गों में बाँटा गया है—

(1) अंग प्रविष्ट—वह ज्ञान जिसका जैनों के धार्मिक ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है।

(2) अंग बाह्य—वह ज्ञान जिसका 'अंगों' में उल्लेख न हो। जैन दर्शन में 'अंग प्रविष्ट श्रुतज्ञान' का महत्त्व 'अंग बाह्य श्रुत' से अधिक है।

Scanned with CamScanner

दर्शन (Perception) को पुनः चार प्रकारों में विभाजित किया गया है जो इस प्रकार हैं–

(i) दृष्टि संवेदन द्वारा दर्शन–इसमें आँखें सक्रिय रहती हैं और वस्तु से सीधा सम्पर्क होता है।

(ii) अदृष्टि दर्शन–इसमें आँखें सक्रिय नहीं रहतीं बल्कि मनः साक्ष्य होता है।

(iii) अविध दर्शन–इसमें देश और काल की दूरी होने पर भी दर्शन हो जाता है। यह यौगिक प्रत्यक्ष की भाँति है।

(iv) केवल दर्शन–केवल दर्शन के अन्तर्गत सम्पूर्ण सत्ता है क्योंकि यह असीमित है। इसमें व्यक्ति सर्वज्ञ या कैवली हो जाता है।

प्रत्यक्ष के भी दो रूप माने जाते हैं–

(1) सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष–इसके अन्तर्गत इन्द्रिय-निबन्धन और अनिन्द्रिय-निबन्धन दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष हैं।

(2) परमार्थिक–इसके अन्तर्गत अवधि, मनः पर्याय और केवल ज्ञान आते हैं। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष वह है जिसे हम दैनिक जीवन में ज्ञान-प्राप्त करने में उपयोग में लाते हैं। इसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों हैं। 'प्रमाण मीमांसावृत्ति' में प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार है–'यह जिज्ञासा की तृप्ति का साधन है। कैवल्यं के ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष सकल होता है और अन्य लोगों के लिए विकल।'

परोक्ष का विभाजन पाँच प्रकारों में किया जाता है–

(1) स्मृति–इसमें पहले अनुभव किए हुए पदार्थ को याद किया जाता है, जैसे हम पहले देखे हुए किसी व्यक्ति को याद करें।

(2) प्रत्यभिज्ञा–वस्तुओं के साम्य के आधार पर प्राप्त हुआ ज्ञान इस कोटि में आता है। पहले कुछ-कुछ जाती हुई वस्तु को देखते ही पहचान लेना 'प्रत्यभिज्ञा' है।

(3) तर्क–सामान्य सत्य के बाजार पर विशेष सत्य की स्थापना करना। सब मनुष्य मरणशील हैं, राम मनुष्य है अतः राम मरणशील है।

(4) अनुमान–इसमें देखी हुई वस्तु के आधार पर न देखी हुई वस्तु की कल्पना की जाती है, जैसे धुएँ को देखकर आग की कल्पना करना अनुमान है।

(5) आगम–किसी ग्रन्थ या प्राचीन जीव की वाणी में विश्वास करना।

'प्रमाणनयत्वालोकालंकारक'—प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान में अन्तरण केवल स्पष्टता के दृष्टिकोण से माना गया है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर—

(1) मतिज्ञान का विषय केवल वर्तमान काल है किन्तु श्रुतज्ञान की सीमा में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों आते हैं।

(2) जैनों ने श्रुतज्ञान को मतिज्ञान से श्रेष्ठ माना है।

(3) मतिज्ञान में परिणाम रहता है किन्तु श्रुतज्ञान आप्त वाक्य है अतः इसमें परिणाम नहीं होता है।

Scanned with CamScanner

परोक्ष प्रमाण तीन प्रकार के हैं–

(1) **अवविज्ञान**—जब मनुष्य कर्मों का आंशिक नाश कर लेता है तो उसे ऐसी अवस्था की प्राप्ति होती है जिसमें वह दूरवर्ती, सूक्ष्म और अस्पष्टता का अन्तर मिटा देने की शक्ति पा लेता है। ऐसे 'सम्यक् दर्शन' को अवविज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान सीमित वस्तुओं का होता है अत: यह अवधि सापेक्ष कहलाता है।

(2) **मन: पर्याय ज्ञान**—जब मनुष्य इस स्थिति में पहुँच जाता है कि उसे अन्य व्यक्तियों के आशयों का ज्ञान होने लगता है, तो उसे मन: पर्याय ज्ञान कहते हैं।

(3) **केवल ज्ञान**—जब व्यक्ति कर्मों से छूटकर आंतरिक दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेता है और अनन्त ज्ञान की प्राप्ति करता है तो उसे 'केवल ज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान की उपलब्धि जीवन मुक्त अर्हतों को होती है।

अनुमान प्रमाण—हेते के द्वारा साध्यवस्तु के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। इसके दो भेद हैं–

(1) **स्वार्थानुमान**—बाहर की घटनाओं को देखकर अपने मन को समझने के लिए किए अनुमान ही स्वार्थानुमान हैं। जैसे जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ आग है।

(2) **परार्धानुमान**—जब दूसरों के मन को समझने के लिए अनुमान किया जाता है तो उसे परार्धानुमान कहते हैं। इनके दो प्रकार हैं–

(क) पंचावयव परार्थानुमान—इसके पाँचों अवयव इस प्रकार हैं—(1) प्रतिज्ञा, (2) हेतु, (3) दृष्टान्त, (4) उपनय, (5) निगमन।

(ख) दशावयव परार्थानुमान—इसमें दस अवयव होते हैं—(1) प्रतिज्ञा, (2) प्रतिज्ञा विभक्ति, (3) हेतु, (4) हेतु विभक्ति, (5) विपक्ष, (6) विपक्ष प्रतिषेध, (7) दृष्टान्त, (8) आशंका, (9) आशंका प्रतिषेध, (10) निगमन।

हेत्वाभास—अनुमान प्रमाण में दोष आने को हेत्वाभास कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं–

(क) असिद्ध (यह सुन्दर है, क्योंकि आकाश कमल है।)

(ख) विरुद्ध—(आग शीतल है, क्योंकि द्रव्य है।)

(ग) ऑकान्तिक (सभी वस्तुयें क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं।)

शब्द प्रमाण—आगमों (शब्दों) के द्वारा प्राप्त ज्ञान को शब्द प्रमाण कहते हैं। यह दो प्रकार का है–

(क) लौकिक—पिता और आप्त पुरुष के वाक्य।

(ख) अलौकिक—आगमों में तीर्थंकरों की वाणियों की प्रामाणिकता को अलौकिक शब्द प्रमाण कहा गया है।

जैनों के प्रमाणों का सीधा ज्ञान हमें नीचे दी हुई तालिका से हो सकता है।

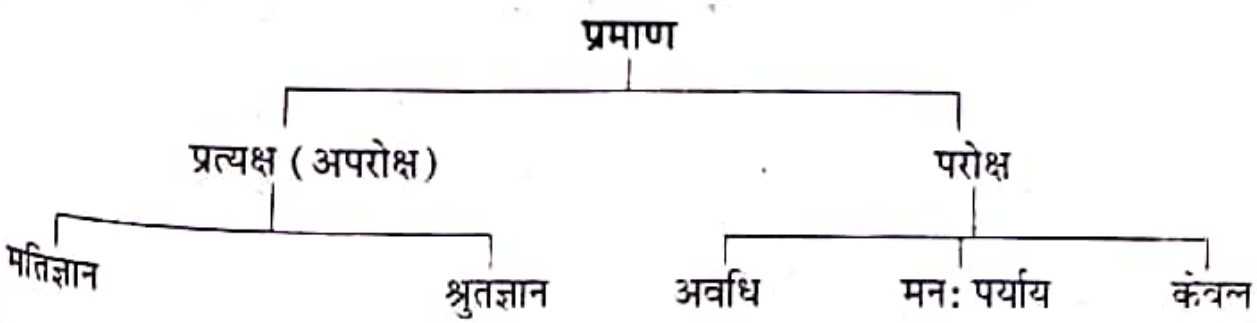

Scanned with CamScanner